समकालीन भारत में नागरिकता का मानचित्र

अंकिता पाण्डेय

भविष्य के भारतीय नागरिकों के लिए 'आदर्श नागरिक व्यवहार' की परिकल्पना करते हुए ऐनी बेसेंट ने गाँधीवादी सत्याग्रह की आलोचना की थी। दीपेश चक्रवर्ती ने बेसेंट के इस असंतोष के बारे में लिखा है। बेसेंट का कहना था कि 'जिस दिन भारत की जीत होगी, वह दिन गाँधी के लिए सबसे बड़ी हार का दिन होगा। जिस अराजकता की भावना, क़ानून का निरादर और सविनय अवज्ञा का लोगों में प्रचार किया जा रहा है उसके परिणामस्वरूप भारतीय सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष और विद्रोह की भावना रहेगी। गाँधी की सीख भारतीय सरकार के ख़िलाफ़ काम करेगी।'[1]

अगर हम समकालीन भारतीय गतिविधियाँ देखें, तो क्या बेसेंट की चेतावनी सही साबित होती लगती है? अपने इस निबंध में नवीनता का कोई दावा किये बग़ैर मैं पाठकों का ध्यान दो मुद्दों के प्रति आकर्षित करना चाहती हूँ। मेरे विचार में ये दोनों, राजनीति के अध्ययन के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। पहला, यह कि नागरिकता को महज़ एक हैसियत न मानकर, एक गतिविधि/व्यवहार या आचरण के रूप में समझना ज़रूरी है। दूसरा आज राज्य और नागरिकों के बीच 'वैध नागरिक गतिविधि' को लेकर चलते संघर्ष के कुछ दिलचस्प उदाहरण हमारे सामने हैं। इन उदाहरणों से हम नागरिकता की अपनी समझ का विश्लेषण कर सकते हैं।

भारत के संविधान की प्रस्तावना 'हम भारत के लोग' से शुरू होती है। इसी प्रस्तावना में 'नागरिक समुदाय' की संकल्पना है। एक ऐसा नागरिक समुदाय जो ख़ुद को सम्बोधित कर रहा है। 'हम भारत के लोग' वे हैं जो ख़ुद भारत का संविधान अपना रहे हैं। इस 'नागरिक समुदाय' की मौजूदगी न तो संविधान से अलग है, न ही संवैधानिक प्रभावों से स्वतंत्र। देखा जाए तो संविधान

---

[1] दीपेश, चक्रवर्ती (2007), 'इन द नेम ऑफ़ द पॉलिटिक्स', दीपेश चक्रवर्ती, रोचना मजूमदार और एंड्रयू सारतोरी (सम्पा.), *फ्रॉम द कोलोनियल टू द पोस्ट कोनोलियल : इंडिया ऐंड पाकिस्तान इन ट्रांज़िशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 35.

'जिस दिन भारत की जीत होगी, वह दिन गाँधी के लिए सबसे बड़ी हार का दिन होगा। जिस अराजकता की भावना, क़ानून का निरादर और सविनय अवज्ञा का लोगों में प्रचार किया जा रहा है उसके परिणामस्वरूप भारतीय सरकार के ख़िलाफ़ असंतोष और विद्रोह की भावना रहेगी। गाँधी की सीख भारतीय सरकार के ख़िलाफ़ काम करेगी।'

ही इस 'नागरिक समुदाय' की संकल्पना का उत्पादन भी कर रहा है। औपचारिक रूप से 'भारत का संविधान' और 'नागरिक समुदाय' का जन्म एक साथ ही हुआ था।

इसी संविधान में आदर्श भारतीय नागरिक की संकल्पना भी निहित है। संविधान में एक तरफ़ व्यक्तिवादी अधिकार पर आधारित नागरिकता का समर्थन किया गया है, वहीं दूसरी तरफ़ व्यक्ति की सामूहिक पहचान और भारतीय सांस्कृतिक विविधता बनाये रखने की कोशिश। राजनीतिक विचारधारा के मुद्दे पर भी उदारतावादी अधिकारों के दृष्टिकोण का सामंजस्य सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के साथ बनाने की कोशिश की गयी है। भारतीय राजनीति का अध्ययन करने वाले कई लेखकों ने भारतीय नागरिकता की संवैधानिक संकल्पना का विश्लेषण किया है।[2] इन सभी ने संविधान और नागरिकता के व्यावहारिक पहलू पर कम ध्यान दिया है। इनकी कोशिश नागरिकता संबंधी प्रावधान व नागरिकता की मानकीय नीति बेहतर करने की है। इनमें नागरिकता की हैसियत के बारे में चर्चा तो है, लेकिन नागरिकता संबंधी रोज़मर्रा के आचरण की नहीं। सवाल यह है कि अगर हम नागरिकता को एक हैसियत न मानकर, एक गतिविधि मानें तो आचरण के रूप में नागरिकता के बारे में हम क्या जानते हैं? ख़ुद नागरिक नागरिकता की संकल्पना को अपने व्यवहार में किस तरह शामिल करते हैं?

भारतीय संविधान भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर रहने वाले लोगों को दो श्रेणियों में बाँटता है : पहला, नागरिक और दूसरा, ग़ैर-नागरिक या बाहरी। नागरिकता की हैसियत और उसके कारण प्राप्त अधिकारों के आधार पर ही इन दोनों श्रेणियों में अंतर किया जाता है। ग़ैर-नागरिकों को दो और श्रेणियों में बाँटा गया है : पहली श्रेणी में वे ग़ैर-नागरिक आते हैं जिनका हमारे प्रति दोस्ताना रवैया है, और दूसरी श्रेणी में वे ग़ैर-नागरिक हैं जो दोस्ताना रवैया नहीं रखते या दुश्मनी रखते हैं।[3] अगर हम अपना मापदण्ड

---

[2] भारतीय संविधान के सैद्धांतिक स्वरूप पर कुछ मुख्य पुस्तकें हैं, ग्रैनविले ऑस्टिन (1999), *द इंडियन क़ांस्टीट्यूशन : कॉरनर स्टोन ऑफ़ अ नेशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली; शिवानी किंकर चौबे (1972), *क़ांस्टिट्एंट असेम्बली ऑफ़ इंडिया : स्प्रिंगबोर्ड ऑफ़ अ रेवोल्यूशन,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली; राजीव भार्गव (2008), *पॉलिटिक्स ऐंड ऐथिक्स ऑफ़ द इंडियन क़ांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली; ज़ोया हसन, ई. श्रीधरन और अन्य (सम्पा.) (2002), *इंडियाज़ लिविंग क़ांस्टीट्यूशन : आइडियाज़, प्रैक्टिसेज़, कंट्रोवर्सीज़,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

[3] भारतीय संविधान के अनुच्छेद 22 (3) में इसे स्पष्ट किया गया है। देखें, *भारत का संविधान (*2008), द्विभाषी संस्करण, चौथा संस्करण, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशंस, इलाहाबाद : 14.

बदल कर नागरिक व्यवहार देखें, तो दो नयी श्रेणियाँ बन सकती हैं। आजकल हम देखते हैं कि कई नागरिकों पर राजद्रोह का आरोप लगा है। इसका मतलब है कि हमारे देश में नागरिकों की भी दो श्रेणियाँ हैं : दोस्ताना नागरिक और राजद्रोही नागरिक। देश के भीतर रहने वाले लोगों को इस तरह विभिन्न श्रेणियों में बाँटना कोई मानसिक प्रयोग नहीं है। विडम्बना यह है कि राज्य इन्हें देशद्रोही समझता है, लेकिन ये ख़ुद ऐसा मानते हैं कि इनकी गतिविधियाँ संवैधानिक विचारों के अनुकूल हैं। अगर संविधान पर इनकी आस्था न होती, तो ये शायद ऐसी गतिविधियों में संलग्न नहीं होते। आज के भारत के कई ऐसे लोग हैं जो बड़े सामाजिक दायरे के लिए 'निष्ठावान नागरिक' हैं लेकिन राज्य की नज़र में 'देशद्रोही' भी! ऐसे में क्या 'उचित नागरिक आचरण' की परिभाषा पर राज्य और नागरिकों की सोच में कोई टकराव दिखता है?

संविधान भारत के राज्य-क्षेत्र के भीतर रहने वाले लोगों को दो श्रेणियों में बाँटता है : पहला, नागरिक और दूसरा, ग़ैर-नागरिक या बाहरी। नागरिकता की हैसियत और उसके कारण प्राप्त अधिकारों के आधार पर ही इन दोनों श्रेणियों में अंतर किया जाता है। ग़ैर-नागरिकों की दो श्रेणियाँ हैं : पहली श्रेणी में वे ग़ैर-नागरिक आते हैं जिनका हमारे प्रति दोस्ताना रवैया है, और दूसरी श्रेणी में वे ग़ैर-नागरिक हैं जो दोस्ताना रवैया नहीं रखते या दुश्मनी रखते हैं।

हैसियत के रूप में नागरिकता

समकालीन राजनीति शास्त्र के सभी महत्त्वपूर्ण सैद्धांतिक दृष्टिकोणों में नागरिकता की अवधारणा पर ख़ास ध्यान दिया गया है। लेकिन इन सभी ने नागरिकता को एक हैसियत के रूप में समझा है। इन सभी दृष्टिकोणों में इसे एक अवस्था माना गया है। उदारतावादी, गणतंत्रवादी, समुदायवादी, बहुसांस्कृतिक इन सभी ने नागरिकता की स्थिति पर काफ़ी गहराई से विचार किया है जिनमें तीन मुख्य बिंदुओं पर ध्यान दिया जाता रहा है : सीमा (नागरिकता के नियम, नागरिकता में समावेश या बेदख़ल करने के मापदंड), विषय-वस्तु (नागरिकता संबंधी अधिकार और ज़िम्मेदारियाँ) और गहराई (नागरिकता की संकल्पना की सक्रियता या निष्क्रियता)।[4]

सीमा के संदर्भ में आमतौर पर इस बात पर विचार किया जाता है किन व्यक्तियों को नागरिक का दर्जा दिया जा सकता है। देश के बाहर रहने वाले को मतदान का हक़ होगा या नहीं? किसी अन्य देश की नागरिकता किस प्रकार हासिल होगी? विषय-वस्तु से संबंधित पहलुओं में इन बातों पर ध्यान दिया जाता है : नागरिकों को किस प्रकार के अधिकार मिलेंगे? ये अधिकार वास्तव में लोगों को मिल पाते हैं या नहीं? विभिन्न समुदायों को किस प्रकार के अधिकार प्राप्त हैं? नागरिकता की गहराई का सवाल इस बात से ताल्लुक़ रखता है कि राज्य अपने नागरिकों से क्या उम्मीदें रखता है। क्या नागरिकों के पास सिर्फ़ अधिकार ही होते हैं? या फिर क़ानून का पालन करने के अलावा उनके कुछ और दायित्व हैं? ये दायित्व कितनी सख़्ती से लागू किये जाते हैं? राजनीतिक प्रक्रिया से नागरिक कितने जुड़े हुए हैं या कितने तटस्थ हैं? देखा जाए तो ये सभी सवाल नागरिकता को एक स्थिति या अवस्था

[4] इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (2002) 'सिटीज़नशिप स्टडीज़ : ऐन इंट्रोडक्शन', इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ सिटीज़नशिप स्टडीज़*, सेज, लंदन : 2.

क्या नागरिकों के पास सिर्फ़ अधिकार ही होते हैं? या फिर क़ानून का पालन करने के अलावा उनके और कितने दायित्व हैं? ये दायित्व कितनी सख़्ती से लागू किए जाते हैं? राजनीतिक प्रक्रिया से नागरिक कितने जुड़े हुए हैं या कितने तटस्थ हैं? देखा जाए तो ये सभी सवाल नागरिकता को एक स्थिति या अवस्था मानते हैं।

मानते हैं। इन सभी सवालों में नागरिकता के मानकीय आदर्श की चर्चा है। भले ही ये सवाल सामाजिक अनुभवों या भेदभावों के कारण सामने आये हैं, लेकिन इनका ज़ोर इस बात पर है कि नागरिकता का मानक किस तरह बेहतर बनाया जाए। ग़ौरतलब है कि नागरिकता का मानक समय के साथ बदलता रहा है। भारत में भी नागरिकता संबंधी क़ानून और संविधान के नागरिकता से जुड़े प्रावधानों में कई बार संशोधन हुआ है। इनमें से कुछ संशोधन तो उन अलिखित और अप्रत्यक्ष नागरिक गतिविधियों के कारण हुआ होगा जो नागरिकता की राजकीय परिभाषा से परे हैं। नागरिकता की इन गतिविधियों को दर्ज करने के लिए हमें नागरिकता को एथनोग्राफी के अनुशासन की मदद से समझना पड़ेगा। आख़िर नागरिक 'नागरिकता' से क्या समझते हैं? उनकी रोज़मर्रा की ज़िंदगी की कौन-सी गतिविधियाँ उनके नागरिक होने से ताल्लुक़ रखती हैं। एक निष्ठावान नागरिक मतदान करने और सरकारी नीतियों के कार्यान्वयन के अलावा किन गतिविधियों में संलग्न रहता है।

हैसियत के रूप में नागरिकता और आचरण के रूप में नागरिकता का स्रोत अलग-अलग सैद्धांतिक परम्पराओं में निहित है। पहली परम्परा में उपजे ज़्यादातर सवाल ऊपर वर्णित तीन मुख्य बिंदुओं अर्थात 1.सीमा, 2.विषय-वस्तु और 3.गहराई से संबंध रखते हैं। नागरिकता के अध्ययन की सबसे प्रमुख परम्परा उदारतावादी लोकतंत्र से जुड़ी हुई है। इसमें राज्य, सम्प्रभुता और नागरिकता— तीनों के प्रति एकीकृत दृष्टिकोण है। नागरिक मुख्य तौर पर अधिकार प्राप्त करने वाला व्यक्ति है। उसे जो अधिकार प्राप्त हैं उनमें से कई राज्य की ताक़त से उसका बचाव करते हैं। यह अलग बात है कि राज्य ही इन अधिकारों का संरक्षण भी करता है। इस परिप्रेक्ष्य में टी.एच. मार्शल की किताब *सिटीज़नशिप ऐंड सोशल क्लास* मील का पत्थर साबित हुई है।[5] मार्शल के अनुसार एक नागरिक होने का पूर्ण एहसास तीन तरह के अधिकारों के संचय से हो सकता है। ये अधिकार ब्रिटेन में तीन सदियों में पहुँच पाये। नागरिक अधिकार, राजनीतिक अधिकार और सामाजिक अधिकारों के मिल जाने के बाद ही नागरिकता की संकल्पना को पूर्ण अर्थ मिला। ऐसा माना जाता है कि एक कल्याणकारी राज्य ही इस संकल्पना को वास्तविक रूप में पूरा कर सकता है। विल किमलिका और वेन नारमन ने इस दृष्टिकोण को 'निजी' या 'निष्क्रिय' नागरिकता का नाम दिया है।[6] इस संकल्पना में नागरिकों को मुख्य रूप से अधिकारों का इस्तेमाल करते देखा जाता है। उन पर अपेक्षाकृत कम दायित्व होता है लेकिन इस कल्याणकारी राज्य के कई कठोर आलोचक भी हुए। नव-दक्षिणपंथी उदारतावाद के दृष्टिकोण से निष्क्रिय नागरिकता की सशक्त आलोचना की गयी। इस संकल्पना में नागरिक सिर्फ़ अधिकारों का पात्र ही नहीं बल्कि राज्य और अपने प्रति उत्तरदायी है। इनका मानना है कि नागरिकों की भलाई का काम नौकरशाही या राज्य का नहीं बल्कि यह नागरिकों की अपनी ज़िम्मेदारी है। ब्रिटेन

[5] टी.एच. मार्शल (1950), *सिटीज़नशिप ऐंड सोशल क्लास,* प्लूटो प्रेस, लंदन,

[6] विल किमलिका और वेन नारमन (1994), 'रिटर्न ऑफ़ सिटीज़न : अ सर्वे ऑन रिसेंट वर्क ऑन सिटीज़नशिप', *एथिक्स,* खण्ड 104, अंक 2.

की सरकारों ने 1980 में राज्य द्वारा दी गयी सुविधाओं में काफ़ी कटौतियाँ कीं। कल्याणकारी राज्य की जगह राज्य की एजेंसियों का निजीकरण, और मुक्त बाज़ार का समर्थन इसका अहम हिस्सा रहा।

राजनीतिक स्तर पर ब्रिटेन की रूढ़िवादी सरकारों में नव-दक्षिणपंथी उदारतावादी संकल्पना का काफ़ी प्रभाव दिखा। लेकिन सैद्धांतिक स्तर पर इसकी काफ़ी आलोचना भी हुई है। ज़िम्मेदारी और सक्रिय नागरिकता के बहाने इस संकल्पना ने कमज़ोर वर्गों को सामाजिक सुविधाएँ देने से इनकार किया। साथ ही इसने लोगों के जीवन को बाज़ार के चलन पर निर्भर बना दिया। इन आलोचनाओं के कारण नागरिकता के अध्ययन में सामाजिक अधिकारों का महत्त्व आज भी बना हुआ है। सार्वदेशिक या कॉस्मोपॉलिटन नागरिकता की अवधारणा इस परम्परा में होने वाले शोध का नवीनतम संस्करण है। ऐसे कई मुद्दे हैं जो किसी एक देश की परिधि के नागरिकों से ही नहीं, बल्कि एक पूरे क्षेत्र या पूरे विश्व से जुड़े मुद्दे हैं। ऐसे में सार्वदेशिक नागरिकता का विचार नागरिकता को एक राष्ट्र-राज्य की परिधि से बाहर ले जाता है।[7] इन सभी विचारों के बीच क्या इस प्रमुख उदारतावादी परम्परा ने आचरण के रूप में नागरिकता पर कोई ध्यान दिया है? इस परम्परा का ही मोटे तौर पर हिस्सा समझी जाने वाली तीन धाराओं ने व्यवहार के रूप में नागरिकता पर थोड़ा ध्यान दिया है। ये तीन धाराएँ हैं— नागरिक गणतंत्रवाद, विमर्शी लोकतंत्र और बहुसंस्कृतिवाद। पहली दोनों धाराओं ने नागरिकों को एक आदर्श व्यवहार की तरफ़ प्रोत्साहित किया। लेकिन बहुसंस्कृतिवाद नागरिकता के वास्तविक अनुभवों में होने वाले भेदभाव और सरंचनात्मक असमानता पर ग़ौर करता है। कुछ हद तक दोनों ही नागरिकता को महज़ मानकीय स्थिति से थोड़ा ज़्यादा मानते हैं। नागरिक गणतंत्रवाद का एक ज़रूरी हिस्सा है नागरिक सद्‌गुण। इस कल्पना में नागरिकों के सार्वजनिक जीवन पर ज़ोर दिया गया है। एक अच्छा नागरिक सार्वजनिक जीवन उत्साह के साथ जिएगा। राजनीतिक भागीदारी के ज़रिये उसे संतुष्टि का एहसास होगा। अपने नागरिक होने का दायित्व उसे बोझ नहीं लगेगा। यह भागीदारी उसके जीवन का अहम हिस्सा होगी। नागरिक गणतंत्रवाद में सभी नागरिक निर्णय लेने की प्रक्रिया का हिस्सा हैं। हाल ही में विलियम गैलस्टन ने इन नागरिक सद्‌गुणों के बारे में लिखा है।[8] उनके अनुसार इन सद्‌गुणों से ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया बेहतर हो सकती है। इन सद्‌गुणों में सार्वजनिक विमर्श पर अटूट विश्वास, सार्वजनिक बहस से मुद्दों को सुलझाने की पहल, सामाजिक सहिष्णुता, राजनीतिक गतिविधियों में भागीदारी जैसे गुणों को शामिल किया जा सकता है। इस परम्परा में यह माना जाता है कि इन गुणों के होने या न होने के आधार पर ही नागरिकों और ग़ैर-नागरिकों में अंतर किया जा सकता है। नागरिक गणतंत्रवाद की भी बहुत आलोचना हुई है। इसकी एक प्रमुख आलोचना यह है

क्या इस प्रमुख उदारतावादी परम्परा ने आचरण के रूप में नागरिकता पर कोई ध्यान दिया है? मोटे तौर पर इसी परम्परा का हिस्सा समझी जाने वाली तीन धाराओं ने व्यवहार के रूप में नागरिकता पर थोड़ा ध्यान दिया है। ये तीन धाराएँ हैं— नागरिक गणतंत्रवाद, विमर्शी लोकतंत्र और बहुसंस्कृतिवाद।

---

[7] इस विवाद पर और जानकारी, मॉरिश रौश (2002), ' सोशल सिटीज़नशिप : ग्राउंड्स ऑफ़ चेंज', इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ सिटीज़नशिप स्टडीज़,* सेज प्रकाशन, लंदन; जे बारबलेट (*1998),* सिटीज़नशिप *: राइट्स, स्ट्रगल ऐंड क्लास इनइक्वलिटी,* ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

[8] विलियम गैलस्टन (1991), *लिबरल परपसिज़ : गुड्स, वर्चूज़ ऐंड डायवर्सिटी इन अ लिबरल स्टेट,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

नागरिक व्यवहारों पर ध्यान देने वाली दूसरी परम्परा है— विमर्शी लोकतंत्र। इसमें व्यक्ति के सार्वजनिक विचार-विमर्श और तार्किक क्षमता पर काफ़ी ध्यान दिया गया है। इस आधार पर यह नागरिकों को सार्वजनिक विचार-विमर्श में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहित भी करता है। नागरिक यहाँ राजनीतिक लक्ष्यों का निर्धारण करने में सक्रियता से भाग लेते हैं।

कि नागरिक समुदाय की इस परिकल्पना में सार्थक जीवन की वैकल्पिक परिभाषा के लिए कोई जगह नहीं है।[9]

आइरिस मैरियन यंग ने नागरिकता की समूह-विभेदीकृत संकल्पना पेश की है।[10] यह ऐसी संकल्पना है जो प्रत्येक समुदाय की ज़रूरतों और स्थिति पर ध्यान देती है और हर तरह के सामाजिक भेदभाव को दूर करने पर इसका ज़ोर है। बहुसांस्कृतिक चिंतन का एक बड़ा फ़ायदा यह है कि वह सार्वभौमिक नागरिकता के खोखले दावों को उजागर कर देता है। जिसे सार्वभौमिक समझकर पारित किया जा रहा है दरअसल वह अपने भीतर सिर्फ़ कुछ शक्तिशाली ताक़तों की संकल्पना छिपाये है। आम राजनीतिक व सामाजिक जीवन में कुछ को समाहित किया जाता है और बहुतेरों का बहिष्कार होता है। बहुसंस्कृतिवादियों का मानना है कि नागरिकता का ढाँचा ऐसा होना चाहिए कि उसमें सिर्फ़ व्यक्तियों के लिए ही नहीं बल्कि समूहों के लिए भी जगह रहे। इस दृष्टि से तीन प्रकार के अधिकारों की ज़रूरत है। समूह-अधिकार, विशेष प्रतिनिधित्व के अधिकार और कुछ मामलों में स्व-शासन का अधिकार। ज़ाहिर है कि बहुसांस्कृतिक परिकल्पना भेदभाव या असमानता के अनुभव से उपजी है, लेकिन इसका ध्यान राज्य की नीतियों को बेहतर करने की ओर है। यह आम जीवन के भेदभाव संबंधी अनुभवों पर तो ध्यान देती है, पर आम जीवन के आचरण में नागरिकता की जो विभिन्न अभिव्यक्तियों हैं उन पर नहीं।

नागरिक व्यवहारों पर ध्यान देने वाली दूसरी परम्परा है— विमर्शी लोकतंत्र। इसमें व्यक्ति के सार्वजनिक विचार-विमर्श और तार्किक क्षमता पर काफ़ी ध्यान दिया गया है। इस आधार पर यह नागरिकों को सार्वजनिक विचार-विमर्श में हिस्सा लेने के लिए प्रोत्साहित भी करता है। नागरिक यहाँ राजनीतिक लक्ष्यों का निर्धारण करने में सक्रियता से भाग लेते हैं। ऐसी सक्रिय भागीदारी से ही राज्य का शासन वैध रह सकता है। राज्य नागरिकों का सही प्रतिनिधि हो सकता है और राज्य न्याय के सिद्धांतों का पालन कर सकता है। नागरिक गणतंत्रवादियों से विपरीत विमर्शी लोकतंत्र के तरफ़दारों का यह दावा नहीं है कि यह भागीदारी व्यक्ति की निजी खुशी या संतुष्टि के लिए ज़रूरी है। वह ऐसा मानते हैं कि न्यायपूर्ण शासन हर व्यक्ति के लिए अहम है और विमर्शी लोकतंत्र इसका सबसे उम्दा तरीक़ा है।[11]

---

[9] नागरिकता की गणतंत्रवादी संकल्पना पर शुरुआती चर्चा के लिए देखें, फ़िलिप पेटिट (1997), *रिपब्लिकनिज़्म : अ थियरी ऑफ़ फ्रीडम ऐंड गवर्नमेंट,* क्लेरेण्डन प्रेस, लंदन.

[10] आइरिस मैरियन यंग (1990), *जस्टिस ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ डिफ़रेन्स,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

[11] सैमूअल फ्रीमैन (2000), 'डेलिबरेटिव डेमोक्रेसी : अ सिम्पेथेटिक कमेंट' *फ़िलॉसफ़ी ऐंड पब्लिक अफ़ेयर्स,* खण्ड 29, अंक 4; राजीव भार्गव (2008), 'आउटलाइन ऑफ़ अ पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ द इंडियन कांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

विमर्शी लोकतंत्र, बहुसंस्कृतिवाद और नागरिक गणतंत्रवादी— तीनों ही नागरिक व्यवहारों के बारे में चिंतन तो करते हैं लेकिन मौजूदा नागरिकों के व्यवहार की अनदेखी करते हैं। ऐसे में, राजनीतिशास्त्र को यह जानने का मौका नहीं मिला है कि मौजूदा और आदर्श कल्पनाओं में कितना फ़र्क़ है। अगर हम यह मान भी लें कि नागरिकों के लिए सार्वजनिक भागीदारी ज़रूरी है, तो क्या नागरिक इस भागीदारी को सुनिश्चित करने के तरीक़े अलग-अलग ढंग से पारिभाषित नहीं कर सकते? नागरिक भागीदारी के इन वैकल्पिक मूल्यों को समझे बिना नागरिकता का अध्ययन अधूरा है।

> **गहरी सामाजिक असमानताओं के बावजूद, संविधान में नागरिक संबंधी प्रावधान, समानता और न्यायपूर्णता के आधार पर बने थे। राजीव भार्गव के अनुसार ऐसा इसलिए हो पाया क्योंकि भारतीय संविधान उदारतावादी दृष्टिकोण से काफ़ी प्रेरित था। संविधान में व्यक्ति और समुदाय दोनों के प्रति संवेदनशीलता थी।**

भारत में नागरिकता संबंधी अध्ययन तीन मुख्य प्रकारों से किया गया है। पहला— भारतीय संविधान और भारतीय नागरिकता का सैद्धांतिक आधार और उसका मूलभूत ढाँचा समझने की कोशिश। दूसरा— कुछ लेखकों ने दर्शाया है कि भारतीय नागरिकता जिन आदर्शों को औपचारिक रूप से अपनाती है, वे आदर्श वास्तविकता में लोगों को प्राप्त नहीं हैं। तीसरा— लेखकों ने नागरिकता के मुद्दे पर संवैधानिक, सैद्धांतिक और राजनीतिक टकरावों को उजागर किया है।

भारतीय संविधान पर राजीव भार्गव ने अपने लेख 'आउटलाइन ऑफ़ अ पॉलिटिकल थियरी ऑफ़ इंडियन कॉन्स्टीट्यूशन' में भारतीय संविधान सभा की प्रमुख उपलब्धियों पर प्रकाश डाला है।[12] उनका मानना है कि नागरिकता पर जिस प्रकार के प्रावधान अपनाये गये, वे अपने आप में एक उपलब्धि हैं। गहरी सामाजिक असमानताओं के बावजूद, संविधान में नागरिक संबंधी प्रावधान, समानता और न्यायपूर्णता के आधार पर बने थे। भार्गव के अनुसार ऐसा इसलिए हो पाया क्योंकि भारतीय संविधान उदारवादी दृष्टिकोण से काफ़ी प्रेरित था। संविधान में व्यक्ति और समुदाय दोनों के प्रति संवेदनशीलता थी। वे लिखते हैं, 'संविधान पर उदार व्यक्तिवादी विचारों का प्रभाव साफ़ है। यह व्यक्ति को सिर्फ़ समूह क्षेत्र के भीतर ही नहीं, सामूहिक गठन से परे भी समझता है।'[13]

'दूसरी उपलब्धि यह है कि संविधान इन उदार व्यक्तिवादी सिद्धांतों का पुनर्निर्माण भी करता है। व्यक्तिगत नागरिक अधिकारों के मूल्य को सामुदायिक संदर्भ में समझा गया है।'[14] भार्गव का मानना है कि संविधान सभा की चर्चाएँ नागरिकता को समझने का बहुत बड़ा व ज़रूरी संसाधन हैं। ये चर्चाएँ छह दशक पुराना इतिहास बल्कि आज का इतिहास समझने में भी मदद करती हैं। मेरे विचार से नागरिकता का इतिहास समझने के लिए सिर्फ़ संविधान के प्रावधान और संविधान सभा की चर्चाएँ पर्याप्त नहीं हैं। नागरिक समुदाय नागरिकता को कैसे समझता है : यह हमें इन चर्चाओं या प्रावधानों में नहीं मिलेगा। केवल सरकारी दस्तावेज़ों से नागरिकता को समझना इस अवधारणा को संकुचित करता है। अपनी किताब की प्रस्तावना के 'संविधान सभा की बहस का अध्ययन ज़रूरी क्यों है?'

---

[12] राजीव भार्गव (2008).

[13] वही : 16.

[14] वही : 19.

आदित्य निगम जिस आत्म-समझ की बात कर रहे हैं, मेरे विचार से उस आत्म-समझ के विचार को हम सिर्फ़ संविधान-सभा की बहसें ही नहीं बल्कि नागरिकता को समझने के लिए भी इस्तेमाल कर सकते हैं।

शीर्षक वाले भाग में भार्गव अपने चुने हुए तरीक़े का औचित्य समझाते हैं। वे लिखते हैं कि 'मुझे नहीं लगता कि हमारी धारणाएँ, मूल्य, आदर्श इतनी गहराई से बदल गये हैं कि हम संविधान सभा की दुनिया से पूरी तरह जुदा हो चुके हैं। संविधान का इतिहास काफ़ी हद तक हमारे वर्तमान का इतिहास है।'[15] मेरे विचार से इसी इतिहास की एक ज़रूरी कड़ी यह जानना है कि लोगों ने संविधान से क्या समझा? इन मूल्यों को उन्होंने अपने व्यवहार में कैसे शामिल किया? संविधान और नागरिकता की सामाजिक भूमिका क्या रही? मुझे ऐसा लगता है कि संविधान या संविधान सभा की बहसों में मेरे इन सवालों का जवाब मौजूद नहीं है।

बहरहाल, कई लेखकों ने संविधान की इस एकीकृत और ग़ैर-जटिल समझ का विरोध किया है। उनका तर्क है कि संविधान सभा में कई मूल्यों पर गहरे टकराव थे। न तो संविधान किसी सरलता से हासिल 'आम सहमति' पर आधारित है, न ही संविधान सैद्धांतिक रूप से एकीकृत है। इस 'आम सहमति' के पीछे कुछ ख़ास समूहों की इच्छाएँ हैं जो अपने आपको 'आम सहमति' के रूप में प्रदर्शित करते हैं। जैसे-जैसे सामूहिक पहचान की राजनीति ने ज़ोर पकड़ा वैसे-वैसे संविधान की इस एकीकृत और सार्वभौमिक संकल्पना का चरित्र उजागर होता गया। यदि हम नागरिकता को पल भर के लिए सिर्फ़ उसके मानकीय स्वरूप में देखें तब भी उसके तनावग्रस्त चरित्र को अनदेखा करना मुश्किल है। आदित्य निगम अपने लेख 'अ टेक्स्ट विदाउट ऑथर' में संविधान के इस एकीकृत आंतरिक तर्क और एकात्मक संरचना की समझ को चुनौती देते हुए लिखते हैं कि 'मैं कहूँगा कि संविधान सभा की चर्चाओं को अगर एक सरसरी निगाह से भी देखा जाए तो किसी एक दृष्टिकोण की प्रभुता नहीं दिखती। कोई एक प्रबल आवाज़ नहीं मिलती।'[16] उनका मानना है कि 'संविधान सभा में बैठे लोगों को हम विरक्त नहीं आसक्त मानें। इसलिए संविधान बनाने की प्रक्रिया को समझने के लिए हमें संविधान-सभा के सदस्यों की आत्म-समझ पहचाननी होगी। उनके तर्कों में उनके भविष्य की संकल्पना जुड़ी हुई थी। उन्होंने जिस सैद्धांतिक मार्ग का चुनाव किया वह उनके पद, शक्ति, निहित-स्वार्थ, स्वायत्तता से परे नहीं था।'[17] निगम यहाँ जिस आत्म-समझ की बात कर रहे हैं, मेरे विचार से उस आत्म-समझ के विचार को हम सिर्फ़ संविधान-सभा की बहसें ही नहीं बल्कि नागरिकता को समझने के लिए भी इस्तेमाल कर सकते हैं। संविधान-सभा के टकरावों के बारे में वेलैरियन रॉड्रिग्ज़ ने भी लिखा है। उन्होंने अपने रिसर्च में संविधान सभा में हुए वाद-विवाद के उद्धरण दिये हैं। उनके लेखन से यह साबित होता है कि ये चर्चाएँ काफ़ी विवादपूर्ण थीं। इस बहस को देखने से यह भी पता चलता है कि नागरिकता के प्रावधानों में अंदरूनी टकराव क्यों है? रॉड्रिग्ज़ लिखते हैं कि 'सभा में बहुत कम सैद्धांतिक एकता थी। लोगों के बीच विचारों का काफ़ी टकराव रहा। इस कारण नागरिकता संबंधी प्रावधान बहुत बार लिखे गये।'[18] यह सच है कि अंततः ये प्रावधान पारित कर दिये गये,

---

[15] वही : 11.

[16] आदित्य निगम (2008), 'अ टेक्स्ट विदाउट ऑथर : लोकेटिंग द कांस्टीट्युएंट असेम्बली ऐज़ इवेंट', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 136.

[17] वही : 137.

[18] वेलेरियन रॉड्रिग्ज़ (2008), 'सिटीज़नशिप ऐंड द इंडियन कांस्टीट्यूशन', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 175.

लेकिन इसका यह मतलब बिल्कुल नहीं है कि इन पर लोगों में आम राय थी। इन प्रावधानों में बाद में कुछ ख़ास परिवर्तन भी किये गये हैं। इन बदलावों पर कुछ लेखकों का ध्यान भी गया है। सरसरी निगाह से देखने में ऐसा लग सकता है कि ये परिवर्तन लोकतांत्रिक दिशा में है, परंतु गहरी समीक्षा से यह कहानी बदल जाती हैं। इनमें से कई बदलाव नागरिकों की सुविधा के लिए नहीं बल्कि सत्तावादी चिंताओं के कारण हुए हैं। *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फियर और सिटीज़नशिप* नाम की किताब में वेलेरियन रॉड्रिग्ज़ और बी.एस. चिमनी ने नागरिकता संबंधी प्रावधानों में आये बदलावों पर ख़ास ध्यान दिया है। रॉड्रिग्ज़ का तर्क है कि संविधान सभा की संकल्पना बाद में किये गये बदलावों से कहीं ज़्यादा लोकतांत्रिक थी।[19] वे लिखते हैं नागरिकता की संवैधानिक संकल्पना अपेक्षाकृत समावेशी थी लेकिन अब वह लगातार जातीय होती जा रही है। नागरिकता प्राप्त करने में भारतीय माता–पिता का होना अनिवार्य सा होता जा रहा है। भारत सरकार इस बदलाव का औचित्य समझाने के लिए अन्य देशों की नीतियों की तरफ़ इशारा करती है, जबकि ख़ुद भारतीय संविधान में अपनायी नीतियों को दरकिनार करती है। इसी किताब में बी.एस. चिमनी ने अपने निबंध में प्रवासी मज़दूर शरणार्थियों के प्रति भारतीय राज्य के रवैये के बारे में लिखा है।[20] राज्य के इस रवैये के पीछे भारतीय राज्य की सीमाओं को बनाये रखने की चुनौती और नागरिकों में पैदा होते विरोध के स्वर हैं। इन दोनों कारणों से भारतीय राज्य का बर्ताव मनमाना हो गया है। कई प्रवासी गुटों के बीच भारतीय राज्य अपने हित में मनमाने ढंग से बर्ताव करने लगा है। रॉड्रिग्ज़ और चिमनी के उठाये गये मुद्दों को अनुपमा रॉय ने एक नयी गहराई से उठाया है। उनकी किताब 'मैपिंग सिटीज़नशिप' में नागरिकता प्रावधानों में आये बदलावों के फ़ैसले, और प्रवासी मज़दूर की स्थिति पर ग़ौर किया गया है।[21] उनके और ऊपर उल्लिखित दूसरे लेखकों में एक बड़ा फ़र्क़ भी है। वे यह नहीं मानतीं कि नागरिकता संबंधी प्रावधान सिर्फ़/लगातार सत्तावादी होते जा रहे हैं। उनका मानना है कि 'राज्य की नीतियाँ प्रगतिशील/लोकतांत्रिक होने से ले कर हानिकारिक/बाधित होने के बीच झूलती रहती हैं। लोकतांत्रिक विकल्पों को खोलने के साथ ही उन्हें बंद करने का काम भी हो रहा है। इस प्रकार नागरिकता की संकल्पना में एक विरोधाभास है, जो एक तरफ़ इस गतिशील संकल्पना की स्वतंत्रता जाहिर करता है, वहीं दूसरी तरफ़ नागरिकता पर सत्तावादी प्रथाओं (जो सामाजिक और आर्थिक संदर्भ से निकली हैं) को जीवंत भी रखता है।'[22] अनुपमा रॉय की किताब से यह तो साबित हो जाता है कि राज्य की नीतियाँ नागरिकों की रोज़मर्रा की

वेलेरियन रॉड्रिग्ज़ का तर्क है कि संविधान सभा की संकल्पना बाद में किये गये बदलावों से कहीं ज़्यादा लोकतांत्रिक थी। वे लिखते हैं नागरिकता की संवैधानिक संकल्पना अपेक्षाकृत समावेशी थी लेकिन अब वह लगातार जातीय होती जा रही है। नागरिकता प्राप्त करने में भारतीय माता–पिता का होना अनिवार्य सा होता जा रहा है।

---

[19] वेलेरियन रॉड्रिग्ज़ (2005), 'सिटीज़नशिप ऐंड द इंडियन कांस्टीट्यूशन', हेलमेट रीफ़ील्ड ऐंड राजीव भार्गव (सम्पा.), *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फियर ऐंड सिटीज़नशिप,* सेज पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली.

[20] बी.एस. चिमनी (2005), 'आउट साइड द बाउन्ड्स ऑफ़ सिटीज़नशिप' हेलमेट रीफ़ील्ड ऐंड राजीव भार्गव (सम्पा.), *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फियर ऐंड सिटीज़नशिप,* सेज पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली.

[21] अनुपमा रॉय (2010), *मैपिंग सिटीज़नशिप,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[22] वही : 6–7.

उज्ज्वल सिंह ने अपनी किताब *पॉलिटिकल प्रिज़नर्स इन इंडिया* **में दिखाया है कि जहाँ राज्य कुछ कार्यकर्त्ताओं को आम अपराधी के रूप में समझता है, वहीं ये कार्यकर्त्ता स्वंय को 'राजनीतिक क़ैदी' की संज्ञा देते हैं। सिंह के अनुसार भारतीय राज्य में भी औपनिवेशिक राज्य की तरह राजनीतिक रूप से सक्रिय कार्यकर्त्ताओं को आम अपराधी समझने की प्रवृत्ति बनी रही है।**

गतिविधियों से प्रभावित है, हालाँकि इस किताब में इस आम व्यवहार पर नहीं बल्कि राज्य की बदलती नीतियों का नागरिकता पर असर देखने की कोशिश की गयी है।

इन सभी वृत्तांतों से हम यह तो कह सकते हैं कि रोज़मर्रा का नागरिक व्यवहार नागरिकता के मानक को प्रभावित करता है। इन प्रावधानों में कौन से बदलाव किस राजनीतिक पल में लाए जा रहे हैं, इसका कारण भी कभी-कभी रोज़मर्रा के नागरिक व्यवहारों में छुपा होता है। जैसे, जब भारतीय संविधान में नागरिकता की परिकल्पना की गयी, तो मौलिक कर्त्तव्यों को उसका हिस्सा नहीं बनाया गया। लेकिन 1970 के दशक में संविधान में इन कर्त्तव्यों की सूची को जोड़ा गया। ज़ाहिर है कि यह बदलाव ख़ुद-ब-ख़ुद नहीं हो सकता था। नागरिकता के सिद्धांत राजनीतिक और सामाजिक दवाबों की वजह से बदले जाते हैं। निश्चित तौर पर इस तरह के बदलावों में नागरिक व्यवहार का दबाव प्रमुख भूमिका निभाता है। लेकिन अभी तक इन व्यवहारों का पर्याप्त अध्ययन नहीं हुआ है।

आचरण के रूप में नागरिकता

जैसा कि हमने अभी तक देखा कि नागरिकता पर लिखे गये साहित्य, निबंधों व पुस्तकों की समीक्षा करने पर हम पाते हैं कि ये सभी नागरिक की पहचान का पुनः संयोजन करते आये हैं। लेकिन 'नागरिक-पहचान' से 'आचरण के रूप में नागरिकता' तक का सफ़र इनमें नहीं मिलता। ये नागरिक-व्यवहार की तरफ़ संकेत तो करते हैं लेकिन नागरिक-व्यवहार का अध्ययन नहीं करते। ऐसा अध्ययन करने से हम जान पायेंगे कि नागरिकता की संकल्पना पर राज्य और नागरिकों के बीच क्या टकराव है? राज्य और उसके नागरिकों के विरोधों के मुद्दों पर उज्ज्वल सिंह ने अपनी किताब *पॉलिटिकल प्रिज़नर्स इन इंडिया* में दिखाया है कि जहाँ राज्य कुछ कार्यकर्त्ताओं को आम अपराधी के रूप में समझता है, वहीं ये कार्यकर्त्ता स्वयं को 'राजनीतिक क़ैदी' की संज्ञा देते हैं।[23] सिंह के अनुसार भारतीय राज्य में भी औपनिवेशिक राज्य की तरह राजनीतिक रूप से सक्रिय कार्यकर्त्ताओं को आम अपराधी समझने की प्रवृत्ति बनी रही है। राज्य का प्रयास हमेशा यह रहा है कि अपने सैद्धांतिक विरोधी को अपराधी क़रार दे दिया जाए। इन 'राजनीतिक क़ैदियों' की ये माँग रही है कि जेल में इन्हें बाक़ी सामान्य अपराधियों से अलग सुविधाएँ, लाभ और रियायतें मिलनी चाहिए। इस किताब से नागरिकों की आत्म-समझ जानने की कोशिश को प्रोत्साहन मिलता है। सिंह लिखते हैं 'आपराधिक क़ैदी से जुदा, राजनीतिक क़ैदी की धारणा भारतीय राष्ट्रवादी धारा की देन है। राष्ट्रवादी समझ में राजनीतिक क़ैदी होना आम अपराधी से अलग दर्ज़ा था।'[24] इन क़ैदियों के दावे से यह दिखता है कि आधिकारिक / राजकीय समझ से नागरिकों की समझ अलग है। स्वतंत्रता के

---

[23] उज्ज्वल कुमार सिंह (1998), *पॉलिटिकल प्रिज़नर्स इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[24] वही : 1.

बाद दो महत्त्वपूर्ण क्षणों पर ये हुआ, एक 1940 का तेलंगाना आंदोलन और दूसरा 1960–1970 का भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी–लेनिनवादी) का आंदोलन। इन दोनों ही क्षणों में कई कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ताओं को जेल भेजा गया था और इन पार्टियों ने माँग की थी कि इन्हें साधारण क़ैदियों की तरह न रखा जाए। उनकी घोषणा थी कि 'कार्यकर्त्ताओं को अपराधी नहीं बल्कि नागरिक का दर्ज़ा मिलना चाहिए। उन्हें रहने की सभ्य जगह, खाना–पीना, चिकित्सा सुविधाएँ और परिवारों को भत्ता मुहैया कराया जाना चाहिए।'[25]

इस किताब के अंत में सिंह लिखते हैं कि आज राजनीतिक क़ैदी होना कोई रणनीति नहीं बल्कि विरोध का परिणाम बन चुका है। 'जेल भरो' या गिरफ़्तारी देने की पहले जैसी नैतिक वैधता नहीं रह गयी है। अगर हम राजनीतिक क़ैदियों के इन दावों को नागरिक आचरण और नागरिकता की आत्म–समझ का हिस्सा मानें तो देखना पड़ेगा कि समकालीन भारत में किन गतिविधियों ने इन दावों की जगह ले ली है?

'नागरिक–आचरण' के एथनोग्राफिक अध्ययन की भी कुछ लेखकों ने पहल की है। ये सभी लेखक किसी एक सैद्धांतिक गुट का हिस्सा नहीं हैं लेकिन इनकी पद्धति पहले गुट के लेखकों से अलग है। भारतीय संविधान पर हुई अकादमिक चर्चा में उपेंद्र बख़्शी का योगदान ऐसी ही एक पहल है। अपने निबंध 'आउट लाइन ऑफ़ अ थियरी ऑफ़ प्रैक्टिस ऑफ़ इंडियन कॉन्स्टीट्यूशनलिज़म' में बख़्शी ने एथनोग्राफिक पद्धति अपनाने की ज़ोरदार सिफ़ारिश की है। इनका तर्क है कि नागरिक–आचरण की शक्ति और उसकी प्रथाओं को भारत में उचित महत्त्व नहीं दिया गया है। एक तरफ़ यूरोप और अमेरिका में मई, 1968 की घटनाओं और वियनताम युद्ध विरोधी आंदोलनों को राजनैतिक व सैद्धांतिक चिंतन में समाहित कर लिया गया है। लेकिन ऐसी 'निर्णायक घटनाओं' ने भारतीय संवैधानिक अध्ययन के तरीक़ों पर कोई छाप नहीं छोड़ी है।[26] बख़्शी के अनुसार संविधान समझने की प्रक्रिया में उन लोगों की रोज़मर्रा की गतिविधियों का अध्ययन करने की ज़रूरत है जो संविधान या क़ानून से जुड़े व्यवसायों में हैं। यह लेख नागरिक–आचरण के बारे में कई महत्त्वपूर्ण सवाल उठाता है। मसलन, 'विभिन्न नागरिक संविधान के प्रावधानों को किस प्रकार समझते हैं? हमें नागरिकों के व्यवहार की कितनी समझ है? क्या हम इस अध्ययन में विद्रोही या राजद्रोही गतिविधियाँ शामिल कर सकते हैं? संवैधानिक मूल्यों और उनके रोज़मर्रा के अनुभवों में क्या कोई टकराव है? क्या हम राजनीतिक चिंतन में संविधान की प्रभावशाली प्रथाओं और संविधान से उपजी हाशिये की प्रथाओं की बात कर सकते हैं।'[27] इसी निबंध में बख़्शी ने यह भी कहा है कि भारत में गणतांत्रिक नागरिकता पूरी तरह से ध्वस्त हो चुकी है। भारतीय नागरिक जब भी सरकारी तंत्र से मुख़ातिब होते हैं तो उन्हें ग़ैर–नागरिक सा व्यवहार मिलता है। हिंसात्मक भारतीय राज्य ने लोगों से नागरिकता छीन ली है।

इस निबंध में मेरा प्रयास है कि हम बख़्शी की तरह भारतीय नागरिकता को पूरी तरह से क्षीण न मानें। यदि हम ऐसे नागरिकों की गतिविधियाँ देखेंगे जो राजनीतिक या सामाजिक रूप से सक्रिय हैं, तो हम नागरिक–आचरण के नये आयाम पायेंगे। परंतु जब तक व्यापक तरीके से नागरिक–आचरण का अध्ययन न हो तब तक नागरिकता की विफलता या सफलता का फ़ैसला असामयिक है। इस असहमति के बावजूद बख़्शी का यह लेख हमें 'हैसियत के रूप में नागरिकता' से हट कर 'आचरण के रूप में नागरिकता' की तरफ़ पहल करने की प्रेरणा देता है। ऐसी पहल जो हमें नागरिकों के साथ

---

[25] वही : 219.

[26] उपेंद्र बख़्शी (2008), 'आउटलाइन ऑफ़ अ थियरी ऑफ़ प्रैक्टिस ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशनलिज़म', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 110.

[27] वही : 98.

हो रहे भेदभाव के अलावा उनके रोज़मर्रा के अनुभवों के बारे में भी हमें बताये। ऐसी पहल से हमें शायद नागरिकता के प्रावधानों में संशोधन के कारण भी बेहतर समझ में आयें।

हैसियत के रूप में नागरिकता के आधार पर चिंतन करने वाले विद्वानों की कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जिन पर 'आचरण के रूप में नागरिकता' के परिप्रेक्ष्य से सवाल उठाये जा सकते हैं। उदाहरण के तौर पर पहले क़िस्म के विद्वान राज्य को एकीकृत इकाई मान कर चलते हैं। लेकिन, अगर नागरिकों के आचरण को देखा जाए तो यह साफ़ हो जाएगा कि अपने रोज़मर्रा के जीवन में आम लोग राज्य को स्थानीय आईने में देखते हैं। उनके लिए राज्य की संस्था सेना हो सकती है या पुलिस स्टेशन, नगर निगम या पोस्ट ऑफ़िस। इससे पता चलता है कि राज्य एकीकृत नहीं खंडित इकाई का नाम है। राज्य और नागरिक संबंधों के बारे में प्रचलित दो आम धारणाओं को ख़ारिज किया जा सकता है। पहली धारणा तो यह है कि नागरिक की आत्म-समझ पूरी तरह से राज्य की नीतियों द्वारा निर्धारित होती है, और दूसरा नागरिक और राज्य दो पृथक इकाइयाँ हैं, जिनमें परस्पर विरोधाभास है। नागरिक-आचरणों को देखने से पता चल सकता है कि नागरिकों की आत्म-समझ किस हद तक राज्य-निर्धारित है और कितनी नहीं, राज्य का निर्धारण कितना प्रबल है और ऐसे कौन से क्षण हैं जो इस निर्धारण से छूट जाते हैं।

इसी दिशा में एक पहल पार्थ चटर्जी की है। उनका मानना है कि सार्वभौम नागरिकता एवं लोकप्रिय सम्प्रभुता जैसे विचारों का भले ही दुनिया भर में बोलबाला रहा हो, लेकिन उत्तर-औपनिवेशिक दुनिया में इन विचारों का उपयोग कम है।[28] उदारतावादी, समुदायवादी, बहुसांस्कृतिक या नागरिक गणतंत्रवाद— हर अवधारणा में 'सार्वभौम नागरिकता' और 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' को प्रमुख माना जाता है। इन सभी अवधारणाओं का यह भी मानना है कि राज्य के प्रभावी ढंग से काम कर पाने के लिए एक नागरिक समाज की उपस्थिति भी ज़रूरी है। यह नागरिक समाज संवैधानिक दायरे में रहते हुए स्वतंत्र रूप से काम करता है। चटर्जी ऐसा मानते हैं कि नागरिक समाज के बाहर भी ऐसी नागरिक गतिविधियाँ हैं जो लोकतंत्र को समझने में सहायक हैं। राजनीति नागरिक गतिविधि का एक और क्षेत्र है जिसे चटर्जी पॉलिटिकल सोसायटी या राजनीतिक समाज की संज्ञा देते हैं। इस समाज के गठन के पीछे दो कारण हैं— कल्याणकारी कार्यों पर सरकारी ज़ोर और चुनावी गोलबंदी का बढ़ता दायरा। चटर्जी अनधिकृत बस्तियों और अवैध प्रवासियों का उदाहरण देते हुए लिखते हैं कि नागरिक समाज के विपरीत राजनीतिक समाज के अपने अलग आंतरिक तर्क हैं। इनकी गतिविधियाँ ऐसी हैं कि हम इन्हें नागरिक समाज की श्रेणी में शामिल नहीं कर सकते हैं। नागरिक समाज में नागरिक हैं तो राजनीतिक समाज में सिर्फ़ जनसंख्या। राजनीतिक समाज हमें नागरिकता के उन पहलुओं से अवगत कराता है जो कि नागरिकों के आचरण के अध्ययन से ही सम्भव है।

ऐसा ही एक प्रयास अखिल गुप्ता के शोध में दिखता है। इनका तर्क है कि इन्हीं गतिविधियों और नागरिक व्यवहारों से 'समाज' और 'राज्य' की अवधारणा निर्मित होती है। गुप्ता उदाहरण स्वरूप भ्रष्टाचार के ख़िलाफ़ नागरिक रोष और कार्यवाही को दर्ज करते हैं। इन मुद्दों पर सक्रियता के ज़रिये ही नागरिक अपने लिए एकीकृत राज्य की कल्पना करते हैं। गुप्ता लिखते हैं 'समाज, समुदाय और राज्य की प्रकृति समझने के लिए भ्रष्टाचार पर हो रही गतिविधियों और उस पर हो रहे विमर्श को समझना महत्त्वपूर्ण है। यह विमर्श दोहरी भूमिका निभाता है। जहाँ एक तरफ़ यह प्रतीकात्मक रूप से राज्य का निर्माण करता है, वहीं दूसरी तरफ़ ख़ुद को नागरिक के रूप में परिभाषित भी करता है।'[29]

[28] पार्थ चटर्जी (2004), *पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्न्ड : रिफ़्लैक्शंस ऑन पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

[29] अखिल गुप्ता (2000), 'वर्ल्ड बाउंड्रीज़ : द डिस्कोर्स ऑफ़ करप्शन, द कल्चर ऑफ़ पॉलिटिक्स ऐंड द इमैजिंड स्टेट', जोया हसन (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड द स्टेट इन इंडिया,* सेज पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली : 356.

अपनी किताब *इनसरजेंट सिटीज़नशिप* में मानव-विज्ञानी *जेम्स होलस्टन* ने एक ख़ास तरीक़े की विद्रोही नागरिकता के बारे में लिखा है। इस किताब में इन्होंने शहरी ग़रीब तबक़े की गतिविधियाँ दर्ज की हैं। इनके अनुसार, इस विद्रोही नागरिकता के कारण ब्राज़ील की नागरिकता पहले से ज़्यादा समतावादी हो गयी है। घरों का निर्माण और भूमिहीनों की लड़ाई इन गतिविधियों का हिस्सा है। नागरिक समाज में रहते हुए ऐसी गतिविधियाँ नामुमकिन हैं, शायद इसीलिए विद्रोही नागरिकता का तरीक़ा अपनाया गया है। अपने नागरिकता अध्ययन में होलस्टन को एक स्थापित और दूसरी उभरती नागरिकता दिखती है। 'आज दुनिया भर में उभरते लोकतांत्रिक नागरिक आचरण के मामलों को देखते हुए लोकतांत्रिक सिद्धांतों का पुनः संयोजन ज़रूरी हो चुका है।'[30] उनका तर्क है कि ये सभी विद्रोही नागरिकताएँ सार्वभौम नागरिकता की प्रतिक्रियाएँ हैं। सार्वभौम नागरिकता अपनी सदस्यता में तो समान अधिकार देती है, लेकिन वितरणमूलक नीतियों में नहीं। होलस्टन के सूत्रीकरण से यह पता चलता है कि नागरिक-आचरण का अस्तित्व है और नागरिकता के अध्ययन के लिए ज़रूरी भी है। नागरिक-आचरण और नागरिकों की आत्म-छवि राजनीतिशास्त्र में समाहित की जानी चाहिए। अक़्सर नागरिक विद्रोह को सविनय अवज्ञा के माध्यम से समझा जाता है। मतलब किसी कथित अन्यायपूर्ण क़ानून का विरोध, जो होशमंद और सार्वजनिक तरीक़े से व्यक्त किया गया हो। ऐसे लोग क़ानून तोड़ने का दावा करते हैं और सज़ा के लिए तैयार रहते हैं। जिन गतिविधियों/विद्रोह की बात इस निबंध में की जा रही है, वह सविनय अवज्ञा की श्रेणी से पूरी तरह अलग है। यहाँ क़ानून तोड़ने का दावा नहीं, उलटा राज्य/सरकार की नीतियों को अपने नज़रिये से देखने का सवाल है।

विद्रोही नागरिकता के कारण ब्राज़ील की नागरिकता पहले से ज़्यादा समतावादी हो गयी है। घरों का निर्माण और भूमिहीनों की लड़ाई इन गतिविधियों का हिस्सा है। नागरिक समाज में रहते हुए ऐसी गतिविधियाँ नामुमकिन हैं, शायद इसीलिए विद्रोही नागरिकता का तरीक़ा अपनाया गया है।

इस बात पर भी आम राय नहीं है कि भारत में हुए सविनय अवज्ञा के प्रयोगों से नागरिक विद्रोह की चेतना को बल मिला या वो पहले से ज़्यादा क्षीण हो गयी है। जहाँ एक तरफ़ भीखू पारिख जैसे लेखकों ने 'सविनय अवज्ञा' को एक ऐसी गतिविधि माना जिसमें कई प्रगतिशाली सम्भावनाएँ हैं। अपनी किताब *कोलोनियलिज़म, ट्रेडिशन ऐंड रिफॉर्म* में उन्होंने लिखा है कि सविनय अवज्ञा तीन बेहतरीन सतम्भों पर टिकी हुई है। मानव जाति की एकता, साधनों और ध्येय की बराबरी, और मानव-स्वभाव के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण। इन तीन मानकों ने नागरिकों को विद्रोह का एक नया तरीक़ा सुझाया था। दूसरी तरफ़ पार्थ चटर्जी जैसे लेखक मानते हैं कि इस सिद्धांत के पीछे एक रणनीति छुपी हुई है। इस तरीक़े से महज़ विरोधों का प्रबंधन हो सकता था, उनका हल नहीं निकाला जा सकता था। अपनी किताब *नैशनालिस्ट थॉट इन द कोलोनियल वर्ल्ड* में उनका तर्क है कि सविनय अवज्ञा किसानों को वर्ग संघर्ष के लिए तैयार करने के बजाय विरोधाभास से बचने की एक तकनीक बन गयी थी। इस तकनीक से राष्ट्रीय संघर्ष वर्ग संघर्ष में परिवर्तित नहीं हो पाया। यह अलग बात है कि गाँधीवादी संघर्ष की यात्रा गाँधी के साथ ख़त्म नहीं हुई। समकालीन भारत में

---

[30] जेम्स होलस्टन (2008), *इनसर्जेंट सिटीज़नशिप : डिसजक्शंस ऑफ़ डेमॉक्रैसी ऐंड मॉडर्निटी इन ब्राज़ील,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन : 272.

डॉ. विनायक सेन अपने आपको सिर्फ़ नागरिक ही नहीं नागरिक कार्यकर्त्ता के रूप में देखते हैं। वे या तो नीतियों में बदलाव की माँग करते हैं या घोषित नीतियों को बेहतर तरीक़े से लागू करना चाहते हैं। उन पर राजद्रोह का आरोप है। उनको न ही अलगाववादी कहा जा सकता है और न ही क़ानून के हाशिये पर रहने वाले 'पॉलिटिकल समाज' में इनकी गिनती हो सकती है।

नागरिक स्वतंत्रताओं और लोकतांत्रिक अधिकारों के लिए काम कर रही संस्थाएँ गाँधीवादी संघर्ष के तरीक़े अपनाती हैं लेकिन वे ख़ुद सविनय अवज्ञा की श्रेणी का इस्तेमाल नहीं करतीं।

भारतीय संदर्भ में विद्रोही नागरिकता

भारतीय राजनीति में सरकारी नीति, संवैधानिक सिद्धांतों ने जिस आचरणमूलक नागरिकता की उपेक्षा करनी चाही है, उसकी आत्म-छवि का टकराव आज राज्य से होता दिखायी देता है। आज भारत में संवैधानिक आचरणमूलक नागरिकता अपने आप के लिए संकट पैदा करती दिखती है। भारत में इस प्रकार आचरणमूलक नागरिकता दो समूहों में सामने आती है। एक प्रगतिशील समूह में सामाजिक कार्यकर्त्ता, वामपंथी कार्यकर्त्ता और मानवाधिकार कार्यकर्त्ता इत्यादि हैं। दूसरी तरफ़ इसका एक रूढ़िवादी हिस्सा भी है जिसमें बाबा जन, और कई दक्षिणपंथी कार्यकर्त्ता हैं जिनकी निष्ठा कभी राज्य के प्रति तो कभी राष्ट्र के प्रति रहती है। अक़्सर इन नागरिकों की गतिविधियाँ एक आदर्श नागरिक व्यवहार से मेल नहीं खातीं। लेकिन इन कार्यकर्त्ताओं को ऐसा लगता है कि ये संवैधानिक दृष्टिकोण पर अमल कर रहे हैं। अलगाववादियों के विपरीत इनकी आस्था देश के संविधान के प्रति है। इनमें से कई पूर्ण रूप से सामाजिक या राजनीतिक कार्यकर्त्ता भी नहीं हैं। इन्होंने अपने आचरणमूलक नागरिक व्यवहार को अपनी पेशेवर ज़िम्मेदारियों के साथ जोड़ लिया है। इनकी सक्रिय नागरिकता की संकल्पना इनकी अपनी है।

आचरणमूलक नागरिकता का ऐसा रूप (जिसे ग़ैर-दोस्ताना/विद्रोही समझा गया) कपिल प्रसाद भट्टाचार्य ने पेश किया था। आशिस नंदी ने अपनी किताब द *रोमांस ऑफ़* द *स्टेट* में इस कहानी के बारे में लिखा है।[31] उनके हिसाब से कपिल प्रसाद भारत के पहले आधुनिक पर्यावरणविद् थे। इस विद्रोही नागरिक की कहानी 1960के दामोदर घाटी बाँध परियोजना की आलोचना से शुरू हुई। नंदी लिखते हैं, '1950-1960 के माहौल में कपिल प्रसाद भट्टाचार्य दामोदर घाटी की कड़ी निंदा कर रहे थे। वे विशाल बाँधों की सबसे पहली, व्यवस्थित, तकनीकी एवं सामाजिक आलोचना करने वाले पहले नागरिक थे।'[32] जैसा कि अनुमान

---

[31] आशिस नंदी (2003), *रोमांस ऑफ़ द स्टेट : ऐंड द फ़ेट ऑफ़ डिसेंट इन द ट्रॉपिक्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[32] आशिस नंदी (2003), 'द स्कोप ऐंड लिमिट्स ऑफ़ डिसेंट : इंडियाज़ फर्स्ट मॉडर्न इनवायरनमेंटलिस्ट ऐंड हिज क्रिटिक ऑफ़ डी.वी.सी.', आशिस नंदी, *रोमांस ऑफ़ द स्टेट : ऐंड द फ़ेट ऑफ़ डिसेंट इन द ट्रॉपिक्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली : 187.

लगाया जा सकता है भट्टाचार्य के लिखे आलोचनात्मक लेख की वजह से उन्हें देश का दुश्मन क़रार दे दिया गया। 1961 में *आनंद बाज़ार पत्रिका* में प्रकाशित एक ख़बर के ज़रिये नंदी ने कपिल प्रसाद के प्रति राज्य का रवैया दर्शाया है। पत्रिका में यह ख़बर छपी कि 'केंद्र सरकार को ऐसे हानिकारक प्रचार की जानकारी मिली है जिसमें पश्चिम बंगाल के फ़रक्का बाँध को बदनाम किया जा रहा है। राज्य सरकार को निर्देश दिये गये हैं कि इस आंदोलन के प्रमुख नेता का पता लगाये। यह भी पता चला है कि पाकिस्तान इस मौक़े का फ़ायदा उठाकर भारत के ख़िलाफ़ अंतर्राष्ट्रीय प्रचार में लग गया है।'[33] यहाँ हम देखते हैं कि भट्टाचार्य के असंतोष या विद्रोह को देश के दुश्मन का सहयोग माना जा रहा है। यह विद्रोह उचित नागरिक–व्यवहार नहीं समझा जा सकता। 'भट्टाचार्य ने बीस साल तक पर्यावरण संबंधी सामाजिक कार्य करने के बाद अपने जीवन के अंतिम वर्ष मानवाधिकार से संबंधित कार्यों में बिता दिये। 68 साल की उम्र में उन्होंने मानवाधिकार पर काम कर रही संस्था एसोसियेशन फ़ॉर प्रोटेक्शन ऑफ़ डेमोक्रटिक राइट्स की सभापति की कुर्सी सँभाली।'[34]

नागरिकों के इन व्यवहारों को हम किस प्रकार परिभाषित करें? क्या ये घटनाएँ नागरिकता–अध्ययन से परे हैं? जैसा कि मैंने इस निबंध की शुरुआत में लिखा है कि, आचरणमूलक नागरिकता नागरिकता की सीमा, विषय–वस्तु या गहराई से संबंधित सवाल नहीं हैं। यह हैसियत के रूप में नागरिकता की श्रेणी में समाहित हो ही नहीं सकती। यह आचरण शायद राज्य को भले ही देशद्रोह लगे लेकिन नागरिकों को संवैधानिक लगता है। नंदी अपने लेख में भी इस बात की पुष्टि करते हैं। वे लिखते हैं कि 'उनकी सिर्फ़ इतनी इच्छा थी कि जल प्रबंधन वैकल्पिक तरीक़ों से हो। देखा जाए तो भट्टाचार्य के लक्ष्य और भारत की औपचारिक विकास नीति के घोषित लक्ष्यों में कुछ ख़ास फ़र्क़ नहीं था।'[35]

कई साल बाद एक अलग संदर्भ में यही क्रम अपने आपको दोहराता नज़र आता है। डॉ. बिनायक सेन अपने आपको सिर्फ़ नागरिक ही नहीं नागरिक कार्यकर्त्ता के रूप में देखते हैं। वे या तो नीतियों में बदलाव की माँग करते हैं या घोषित नीतियों को बेहतर तरीक़े से लागू करना चाहते हैं। उन पर राजद्रोह का आरोप है। उनको न ही अलगाववादी कहा जा सकता है और न ही क़ानून के हाशिये पर रहने वाले 'राजनीतिक समाज' में इनकी गिनती हो सकती है। शोमा चौधरी ने अपने लेख में डॉ. विनायक सेन की कही हुई बात का, जो उन्होंने न्यायालय से जेल जाते समय कही थी, बयान करते हुए लिखा है, 'अगर ये मुझ जैसे लोगों को गिरफ़्तार करेंगे तो मानवाधिकार पर काम करने वालों की कोई सुनवाई नहीं रह जाएगी... यहाँ की शिकायतें वास्तविक हैं। इस प्रांत में एक अकाल आया हुआ है, यहाँ का शरीर–द्रव्यमान 18.5 से कम है, देश का 40 फीसदी हिस्सा कुपोषण के साथ जी रहा है। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजातियों में ये संख्या 50–60 फ़ीसदी तक पहुँच जाती है। हमें और ज़्यादा समावेशी विकास के लिए प्रयास करना चाहिए। आप लोगों को दो श्रेणियों में नहीं बाँट सकते। सभी को क़ानूनी सहायता और चिकित्सीय देखभाल का अधिकार है। यह संविधान में लिखा है, यही व्यक्ति के मानवाधिकारों का आधार है।'[36]

यदि कोई यह न जानता हो कि ये डॉ. बिनायक सेन के शब्द हैं— जिन पर देशद्रोह के अलावा आपराधिक षड्यंत्र का आरोप है— तो उसे ये लगेगा कि ये बातें नागरिकता की राजकीय संकल्पना की भावनाओं से संचारित हैं। इनमें हमें संविधान के प्रति आदर और संस्थाओं के प्रति आस्था नज़र

---

[33] वही : 188.

[34] वही : 192.

[35] वही :192.

[36] शोमा चौधरी (2008), 'द डॉक्टर, द स्टेट ऐंड अ सिनिस्टर केस', *तहलका,* खण्ड 5, अंक 7.

आती है। इनमें अधिकारों की ज़ुबान और समानता के प्रति संजीदगी दिखती है। इसमें समावेशी विकास और नागरिक सक्रियता से सरकारी परियोजना को लागू करने के प्रति आशा दिखायी देती है। लेकिन नागरिक के प्रतिमान में यह क्या असंगति है? क्या यह इसलिए उत्पन्न हो रही है क्योंकि नागरिक अपनी इस पहचान को कुछ ज़्यादा ही संजीदगी से समझ रहा है? नागरिकता का मानकीय प्रतिमान अपने ही अधिकार, समानता और सक्रियता की उपज को चुनौती समझने लगा है। इस तरह का नागरिक प्रतिमान ख़ुद के द्वारा उत्पन्न की जाने वाली आत्म-चेतना को समायोजित नहीं कर पा रहा है।[37]

नागरिकता-अध्ययन के इस संकट से हमें नागरिकता को समझने का एक अलग साधन मिलता है। लेखक और सामाजिक कार्यकर्त्ता अरुंधती रॉय एक ऐसी ही नागरिक हैं। उन पर आरोप है कि वे अपने राज्य विरोधी, राष्ट्र विरोधी लेखों व भाषणों से लोगों के बीच राज्य के प्रति अनासक्ति या नफ़रत का प्रचार कर रही हैं। अपने कई साक्षात्कारों में उन्होंने संविधान के प्रति उत्साह दिखाया है। वे नर्मदा बचाओ आंदोलन में एक ऐसे गुट का हिस्सा थीं जिसने विवाद का समाधान पाने के लिए न्यायपालिका का रास्ता चुना था। 2010 में कथित तौर पर जम्मू-कश्मीर मुद्दे पर एक भाषण के कारण दिल्ली पुलिस ने उन पर राजद्रोह का आरोप लगाया है। अपनी प्रतिक्रिया में रॉय ने कहा, 'शायद भारतीय सरकार को जवाहरलाल नेहरू पर मरणोपरांत देशद्रोह का आरोप लगाना चाहिए। मैंने कश्मीर मुद्दे पर ऐसा कुछ नहीं कहा जो उन्होंने पहले नहीं कहा है।'

आज भारतीय राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में अनधिकृत बस्तियाँ, रास्ते, अवैध प्रवासी, शरणार्थी, दिहाड़ी मज़दूर, भूमिहीन सभी के लिए सैद्धांतिक गुंजाइश है। पार्थ चटर्जी के नागरिक समाज की अवधारणा के ज़रिये लोकतांत्रिक राजनीति के इन उपेक्षित पहलुओं पर संजीदगी से चर्चा की जा रही है। लेकिन इस विद्रोही नागरिक की पहचान न तो नागरिक समाज के दायरे में पड़ती है, और न ही क़ानून के उस हाशिये पर पायी जाती है जिसे हम पॉलिटिकल समाज की धारणा के ज़रिये समझते हैं। ख़ुद को निष्ठावान नागरिक समझने वालों का विद्रोह आज नागरिकता के अध्ययन में एक प्रश्नचिह्न तो है ही, साथ ही यह एक अवसर के रूप में भी हमारे सामने है।

संदर्भ

अखिल गुप्ता (2000), 'वर्ल्ड बाउंड्रीज़ : द डिस्कोर्स ऑफ़ करप्शन, द कल्चर ऑफ़ पॉलिटिक्स ऐंड द इमेजिड स्टेट', जोया हसन (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड द स्टेट इन इंडिया,* सेज पब्लिकेशन्स, नयी दिल्ली.

अनुपमा रॉय (2010), *मैपिंग सिटीज़नशिप,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

आइरिस मैरियन यंग (1990), *जस्टिस ऐंड द पॉलिटिक्स ऑफ़ डिफ़रेंस,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन.

अरुंधती रॉय (2010), 'परहैप्स दे *शुड पोस्थुमसली फाइल अ चार्ज अगेंस्ट जवाहरलाल नेहरू टू', 28 नवम्बर,* www.outlookindia.com/article.aspx?268215 *देखने की तारीख 12 नवम्बर, 2012.*

आदित्य निगम (2008), 'अ टेक्स्ट विदाउट ऑथर : लोकेटिंग द कांस्टीट्युएन्ट असेम्बली ऐज़ इवेंट', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

आशिस नंदी (2003), *रोमांस ऑफ़ द स्टेट ऐंड द फेट ऑफ़ डिसेंट इन द ट्रॉपिक्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी

---

[37] अरुंधती रॉय (2010), 'परहेप्स दे शुड पोस्थुमसली फाइल अ चार्ज अगेंस्ट जवाहरलाल नेहरू टू', 28 नवम्बर, www.outlookindia.com.aspx? 268215, देखने की तारीख, 12 नवम्बर, 2012.

प्रेस, नयी दिल्ली.

---------- (2003), 'द स्कोप ऐंड लिमिट्स ऑफ़ डिसेंट : इंडियाज़ फर्स्ट मॉडर्न इनवायरनमेंटलिस्ट ऐंड हिज क्रिटिक ऑफ़ डी.वी.सी.', आशिस नंदी, *रोमांस ऑफ़ द स्टेट : ऐंड द फेट ऑफ़ डिसेंट इन द ट्रॉपिक्स,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (2002) 'सिटीज़नशिप स्टडीज़ : ऐन इंट्रोडक्शन', इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ सिटीज़नशिप स्टडीज़,* सेज प्रकाशन, लंदन.

उज्ज्वल कुमार सिंह (1998), *पॉलिटिकल प्रिज़नर्स इन इंडिया,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

उपेन्द्र बख़्शी (2008), 'आउटलाइन ऑफ़ अ थियरी ऑफ़ प्रैक्टिस ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्युशनलिज़म', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ग्रैनविले ऑस्टिन (1999), *द इंडियन कांस्टीट्युशन : कॉरनर स्टोन ऑफ़ अ नेशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

ज़ोया हसन, ई. श्रीधरन और अन्य (सम्पा.) (2002), *इंडियाज़ लिविंग कांस्टीट्यूशन : आइडियाज़, प्रैक्टिसिज़, कंट्रोवर्सीज़,* परमानेंट ब्लैक, दिल्ली.

जेम्स होलस्टन (2008), *इनसर्जेंट सिटीज़नशिप : डिसजंक्शंस ऑफ़ डेमॉक्रैसी ऐंड मॉडर्निटी इन ब्राज़ील,* प्रिंसटन युनिवर्सिटी प्रेस, प्रिंसटन : 272.

टी. एच. मार्शल (1950), *सिटीज़नशिप ऐंड सोशल क्लास,* प्लूटो प्रेस, लंदन.

दीपेश, चक्रवर्ती (2007), 'इन द नेम ऑफ़ द पॉलिटिक्स', दीपेश चक्रवर्ती, रोचना मजूमदार और एण्ड्रयू सारतोरी (सम्पा), *फ़ॉर्म द कोलोनियल टू द पोस्ट कोलोनियल : इंडिया ऐंड पाकिस्तान इन ट्रांज़िशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

पार्थ चटर्जी (2004), *पॉलिटिक्स ऑफ़ गवर्न्ड : रिफ़्लैक्शंस आन पॉलिटिक्स इन मोस्ट ऑफ़ द वर्ल्ड,* परमानेंट ब्लैक, नयी दिल्ली.

फिलिप पेटिट (1997), *रिपबलिकनिज़म : अ थियरी ऑफ़ फ्रीडम ऐंड गवर्नमेंट,* क्लेरेण्डन प्रेस, लंदन.

बी.एस. चिमनी (2005), 'आउट साइड द बाउंड्स ऑफ़ सिटीज़नशिप', हेलमेट रीफ़ील्ड ऐंड राजीव भार्गव (सम्पा.), *सिविल सोसायटी, पब्लिक स्फियर ऐंड सिटीज़नशिप,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

*भारत का संविधान (*2008), द्विभाषी संस्करण, चौथा संस्करण, सेंट्रल लॉ पब्लिकेशंस, इलाहाबाद.

मॉरिश रौश (2002), ' सोशल ल सिटीज़नशिप : ग्राउंड्स ऑफ़ चेंज', इंजन एस. आइसिन और ब्रायन टर्नर (सम्पा.), *हैंडबुक ऑफ़ सिटीज़नशिप स्टडीज़,* सेज प्रकाशन, लंदन; जे बारबलेट (*1998), सिटीज़नशिप : राइट्स, स्ट्रगल ऐंड क्लास इनइक्वलिटी,* ओपन युनिवर्सिटी प्रेस, लंदन.

राजीव भार्गव (2008), *पॉलिटिक्स ऐंड ऐथिक्स ऑफ़ द इंडियन कॉन्सटिट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

--------- (2008), 'आउटलाइन ऑफ़ अ पॉलिटिकल थ्योरी ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ द इंडियन कॉन्स्टीट्युशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

विल किमलिका और वेन नारमन (1994), 'रिटर्न ऑफ़ सिटीज़न : अ सर्वे ऑन रिसेंट वर्क ऑन सिटीज़नशिप', *एथिक्स,* खण्ड 104, अंक 2.

विलियम गैलस्टन (1991), *लिबरल परपसेज : गुड्स, वर्चूज़ ऐंड डायवर्सिटी इन अ लिबरल स्टेट,* कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज.

वेलेरियन रॉड्रिग्स (2005), 'सिटीज़नशिप ऐंड द इंडियन कांस्टीट्यूशन', हेलमेट रीफ़ील्ड और राजीव भार्गव (सम्पा.), *सिविल सोसाइटी, पब्लिक स्फीयर ऐंड सिटीज़नशिप,* सेज पब्लिकेशंस, नयी दिल्ली.

वेलेरियन रॉड्रिग्स (2008), 'सिटीज़नशिप ऐंड द इंडियन कांस्टीट्यूशन', राजीव भार्गव (सम्पा.), *पॉलिटिक्स ऐंड एथिक्स ऑफ़ इंडियन कांस्टीट्यूशन,* ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

सैम्युअल फ्रीमैन (2000), 'डेलिबरेटिव डेमोक्रेसी : अ सिम्पेथेटिक कमेंट' *फ़िलॉसफ़ी ऐंड पब्लिक अफ़ेयर्स,* खण्ड 29, अंक ४.

शिवानी किंकर चौबे (1972), *कांस्टीट्युएंट असेम्बली ऑफ़ इंडिया : स्प्रिंगबोर्ड ऑफ़ अ रेवोल्यूशन,* मनोहर पब्लिशर्स, दिल्ली.

शोमा चौधरी, (2008), 'द डॉक्टर, द स्टेट ऐंड अ सिनिस्टर केस', *तहलका,* खण्ड 5, अंक 7.